किसान और जनजातीय आंदोलन (1857-1919)

1857 ई० के पूर्व भी कृषकों तथा आदिवासियों ने अनेक बार सरकारी भूमि-संबंधी नीतियों, ज़मींदारों के अत्याचारों तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध बगावत की थी। सरकार ने इन्हें सैनिक शक्ति का सहारा लेकर दबा दिया था परंतु किसानों तथा आदिवासियों की दयनीय स्थिति को सुधारने का कोई संतोषजनक प्रयास नहीं किया। इसलिए 1857-1919 के मध्य भी किसानों और आदिवासियों के अनेक आंदोलन हुए। इन आंदोलनों के कारण भारत का भूभाग लगभग दहलाने जैसा हो गया।

किसान आंदोलन (The Peasant Movements)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपनी दयनीय स्थिति से क्षुब्ध होकर किसानों ने अनेक बड़े विद्रोह एवं आंदोलन किए। इनमें प्रमुख हैं बंगाल में नील विद्रोह, दक्कन के किसानों का आंदोलन अथवा मराठा विद्रोह, पवना और मोपला विद्रोह तथा चम्पारण, खेड़ा और दरभंगा का किसान आंदोलन।

नील विद्रोह (1859-60) (The Indigo Revolt)

नील की खेती एक अत्यंत लाभदायक व्यवसाय थी। इसलिए अंग्रेजों ने भारत में इसकी खेती आरंभ करवाई। इसके लिए किसानों को ज़बरदस्ती बाध्य किया गया। इस प्रक्रिया में उनका आर्थिक और शारीरिक शोषण हुआ। इसके विरोध में नील की खेती करनेवाले किसानों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे -

विद्रोह के कारण-

ज़बरदस्ती नील की खेती करवाना - 1857-58 के विद्रोह के पश्चात् पहला संगठित विद्रोह बंगाल में नील की खेती करनेवाले किसानों द्वारा हुआ। यह विद्रोह नीले साहबों के अत्याचारों और अमानवीय व्यवहारों के कारण हुआ। नील का उपयोग रंग बनाने के काम में किया जाता था। यह ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का एक मुख्य माल था। 18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में अंग्रेजों ने भारत में इसकी खेती आरंभ करवाई। आरंभ में कंपनी ने नील की खेती को बढ़ावा देने के लिए बहुत ईंटें दीं। इस काम में लगे लोगों को भारत बुलवाया और इसकी खेती करने को प्रोत्साहित किया, परंतु धीरे-धीरे कंपनी ने नील की खेती का काम यूरोपीय बागान-मालिकों के ज़िम्मे सुपुर्द कर दिया। इन नीले साहबों ने बंगाल और बिहार में बड़े पैमाने पर नील की खेती आरंभ की। इसकी खेती से बागान-मालिकों को बहुत अधिक मुनाफा होता था, परंतु किसानों की दशा गुलाम-सदृश हो गई थी। किसानों को नील की खेती करने के लिए बाध्य किया गया। उनके शोषण के नए-नए उपाय किए गए। नीले साहब कलकत्ता में एक पौंड नील करीब 1 रुपया 4 आने में खरीदते थे और उसे इंग्लैंड के बाज़ार में 5-7 रुपये में बेचते थे। इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि नील की खेती करने से उन्हें कितना अधिक मुनाफा होता था। स्वभावतः इस लाभप्रद व्यवसाय पर वे अपना शिकंजा जमाए रखना चाहते थे। इसके लिए वे किसानों को मूर्ख तो बनाते ही थे, उनपर अमानवीय अत्याचार भी करते थे।

ज़बरदस्ती व्यवस्था और किसानों का शोषण - बंगाल में नील की खेती करवाने के लिए नीले साहबों ने ददनी-व्यवस्था का सहारा लिया। इसके अनुसार किसानों को बागान-मालिकों से 2 रु० प्रति बीघा की दर से अग्रिम धनराशि देकर अपनी ज़मीन में नील की खेती करने को बाध्य किया जाता था। किसान को मालिक के साथ एक इकरार का अनुबंध करना पड़ता था, जिसमें ज़मीन की नाप, नील की कीमत इत्यादि का उल्लेख रहता था। फसल ख़राब होने पर किसान को हर्जाना देना पड़ता था। नील तैयार होने के बाद किसान को उसे नील-कोठी में पहुँचाना पड़ता था। इस व्यवस्था में किसानों को नीले साहबों का गुलाम ही बना

दिया। एक बार अग्रिम धन ले लेने के बाद इसकी खेती करने से कभी छुटकारा नहीं मिलता था। उनके कर्ज़ की रक़म बढ़ती ही चली जाती थी। इस चाहकर भी वे मुक्त नहीं कर सकते थे। उन्हें पुश्त-दर-पुश्त बागान-मालिक एवं उनके उत्तराधिकारियों के लिए नील की खेती करनी ही पड़ती थी। इनकार करने पर उन्हें कोड़ा पीटा जाता, उनके घर एवं उनकी संपत्ति लूट ली जाती, आग लगा दी जाती एवं अनेक बार तो उनकी हत्याएँ भी कर दी जातीं। इतना ही नहीं, नीले साहब ज़मीन की नाप करते वक्त भी किसानों को धोखा देते थे। वे ढाई बीघा ज़मीन को एक बीघा नापते थे। किसान अपनी ज़मीन पर नील के अतिरिक्त अन्य कोई फसल नहीं उगा सकते थे। किसानों के लिए नील की खेती करना धान की खेती से अधिक परिश्रमयुक्त एवं आर्थिक रूप से हानिकारक था। इसलिए नीले साहबों और नील की खेती के विरुद्ध किसानों का असंतोष बढ़ता ही गया।

नीलहों की सरकारी संरक्षण एवं किसानों की प्रतिक्रिया - सरकारी नीतियों एवं प्रशासन ने नीलहों को सरकारी संरक्षण प्रदान किया। किसानों के असंतोष और अधिक बढ़ गया। सरकार किसानों को नीलहों के अत्याचारों से बचाने के बदले आर्थिक और प्रशासनिक दबाव डालकर नीलहों की ही सुरक्षा प्रदान करती थी। 1819 ई० के मध्य ऐसे कानून बनाए गए जिनसे कानून द्वारा नीलहों का किसानों पर शिकंजा मजबूत कर दिया। उदाहरणस्वरूप, 1830 ई० के एक कानून द्वारा नीलहों को खेती से इनकार करने पर किसानों को गिरफ्तार करने का अधिकार मिला। 1833 ई० के चार्टर ऐक्ट द्वारा उन्हें भारत में ज़मीन खरीदने और बसने तथा 1837 ई० में ज़मींदारी खरीदने का अधिकार मिला। वे अपनी ज़मींदारी के किसानों का लगान बढ़ा सकते थे तथा उन्हें ज़मीन से बेदखल भी कर सकते थे। 1857 के विद्रोह के दौरान बंगाल में बड़ी संख्या में नीलहों ने अवैतनिक मजिस्ट्रेट का पद सँभाला था, जिसका उपयोग उन्होंने अपने लाभ के लिए किया। नीले साहब जितना भी अत्याचार करते, उनके अत्याचारों की सुनवाई अदालतों में नहीं हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में बंगाल के किसानों को नीलहों के भयंकर अत्याचार एवं शोषण का शिकार बनना पड़ा।

<u>विद्रोह का स्वरूप</u>

नीलहों का बहिष्कार - यद्यपि नीलहों के अत्याचारों और किसानों की दुर्दशा से पूर्णतः परिचित थे, तथापि उन्होंने इस तरफ ध्यान नहीं दिया। इसलिए 1859-60 के वर्ष में किसानों ने थान-ठाना विद्रोह के अत्याचारों से मुक्ति पाने का प्रयास किया। 1859 ई० तक उनके असंतोष चरम सीमा पर पहुँच गया। नदिया, बारसात और पवना जिलों में यह मुख्य रूप से नील की खेती होती थी। किसानों ने नील की खेती करने एवं अग्रिम धन लेने से इनकार कर दिया। किसानों ने पहले सरकार को आवेदनपत्र देकर नील की खेती बंद करने का अनुरोध किया, परंतु इससे विफल होकर किसानों ने विद्रोहात्मक रवैया अपनाया। गाँव-गाँव में किसानों ने अपने को संगठित किया। जहाँ नीलहों के आदमी गाँव-मालिकों के हथियारबंद दस्ते उन्हें गाँव से खदेड़ देते। इसके साथ-साथ किसान बागान-मालिकों के साथ असहयोग करने लगे। उन्होंने नौकरों को नौकरी छोड़ देने के लिए दबाव डाला जाता। उन्हें आवश्यकता की वस्तुएँ नहीं दी जातीं। एक किसान दूसरे किसान की ज़मीन नीलहों में नहीं लेता। वे अपने किसान भाइयों के विरुद्ध मुक़दमे में गवाही भी नहीं देते थे। इससे जहाँ नीले साहबों एवं उनके कर्मचारियों को अनेक कठिनाइयाँ हुईं, मज़दूरों के अभाव में जहाँ अनेक कोठियों का काम ठप पड़ गया, वहीं किसानों ने आपसी एकता स्थापित हुई। गाँव के चौकीदारों ने भी नील का बहिष्कार किया था, पुलिस की सहायता नहीं की।

सशस्त्र क्रांति - अप्रैल, 1860 में सरकार ने किसानों पर दबाव डालने के लिए कड़े कदम उठाए, परंतु इसकी किसानों ने प्रतिक्रिया हुई। अब किसानों ने खुली बगावत और शस्त्र का सहारा लिया। बारसात में किसान हथियारों से लैस होकर बड़ी संख्या में एकत्र हुए। उन्होंने नील की खेती नहीं करने का फैसला किया। इसी प्रकार जस्सोर, खुलना, राजशाही, ढाका, मालदा, दिनाजपुर इत्यादि सभी जगहों पर किसानों ने नील की खेती करने से इनकार कर दिया। गाँवों ने गोरों पर आक्रमण किया, नील की खेती नष्ट कर दी, नील के कारखाने लूट लिए गए एवं उन्हें जला दिया गया। पुलिस के साथ भी उन्होंने संघर्ष किया। सरकार

ने भी दमनचक्र चलाया और हज़ारों किसानों को गिरफ्तार कर उन्हें झूठे मुक़दमों में फँसा दिया, लेकिन उनकी हिम्मत पस्त नहीं हुई।

विद्रोह का जनसमर्थन - नील-विद्रोह को अपार जनसमर्थन प्राप्त हुआ। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों ने समाचारपत्रों एवं अपनी लेखनी द्वारा किसानों की दुर्दशा एवं नीलहों के अत्याचारों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। शिशिरकुमार घोष और हरिश्चंद्र मुखर्जी ने हिंदू पैट्रियट नामक समाचारपत्र में नीलहों के अत्याचारों को रंगते खड़ी कर देनेवाली कहानियाँ प्रकाशित कीं। बागान-मालिकों तथा उनके अत्याचारी गोदामों को गाँवों के माध्यम से भी प्रकाश में लाया गया। दीनबंधु मित्र ने नीलदर्पण नामक नाटक में नीलहों के अत्याचारों का वर्णन किया। इसके चलते पूरे बंगाल में असंतोष की ज्वाला धधक उठी। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कैनिंग ने खुद इसकी चिंता रही, जितनी दिल्ली की घेराबंदी (1857 ई० का महाविद्रोह) के समय हुई थी।"

विद्रोह का नेतृत्व - नील-विद्रोह का एक विशेषत यह मानी जानी चाहिए कि इसका नेतृत्व स्वयं किसानों ने किया था। विभिन्न जिलों में विश्वासपात्र - दिगंबर विश्वास और विष्णुचरण विश्वास तथा मालदा में रफीक मंडल ने इस विद्रोह का नेतृत्व प्रदान किया। हिंदू और मुसलमान किसान दोनों ने साथ मिलकर नीलहों के अत्याचारों का सामना किया। किसानों को बंगाल के प्रभुवर्गों का मुख्य समर्थन प्राप्त हुआ।

<u>विद्रोह का महत्त्व एवं परिणाम</u>

नील आयोग का गठन - किसानों के प्रतिरोध और उनके होतेवाले जनसमर्थन को देखकर सरकार भी विचलित हो उठी। अतः, 1860 ई० में एक नील-आयोग का गठन किया गया। इसके सामने किसानों ने जो गवाहियाँ पेश कीं, उनसे नीलहों के अत्याचारों एवं किसानों का नील की खेती के प्रति घृणा का पर्दाफाश हो गया। अनेक किसानों ने आयोग के सामने यहाँ तक कहा कि वे प्राण देकर भी इसकी खेती नहीं करेंगे। फरीदपुर के मजिस्ट्रेट ने भी नील की खेती को खून-खराबे की पद्धति बताई। किसी भी किसान ने जिस ढंग से नील की खेती करवाई जाती थी, उसके पक्ष में एक शब्द नहीं कहा। अतः, आयोग ने किसानों की शिकायत को सही माना। उसने सरकार से नीलहों के अत्याचारों को रोकने और खेती की पद्धति को बदलने का सुझाव दिया। इसीलिए सरकार ने ज़बरदस्ती नील की खेती करवाने पर प्रतिबंध लगा दिया। 1860 में एक कानून बनाया गया। इसके अनुसार किसानों से ज़बरदस्ती नील की खेती नहीं करवाई जा सकती थी। जो किसान ददनी लेते थे, उनके लिए खेती करना आवश्यक था। ऐसा नहीं करने पर उन्हें दंडित किया जा सकता था। यह बंगाल के किसानों की बहुत बड़ी विजय थी।

नील-विद्रोह राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। किसानों ने विद्रोह के साथ-साथ अपने हितों की सुरक्षा के लिए संवैधानिक मार्ग का भी सहारा लिया। इस अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध असंतोष एवं भारतीयों की राष्ट्रीय भावना को बढ़ाया। किसानों के विद्रोह के परिणामस्वरूप तत्कालीन बंगाल की खेती दूरदर्शी हो गई। जब नीलहों ने लगान-वृद्धि की योजना बनाई तब किसान लगान नहीं देने का निश्चय कर लिया। वस्तुतः बंगाल के लिए बंगाल में खेती करना दुष्कर हो गया। अब उन्होंने अपनी गतिविधियाँ उत्तरप्रदेश और बिहार में बढ़ा लीं। महात्मा गांधी द्वारा चम्पारण में नीलहों के विरुद्ध सत्याग्रह आरंभ करने के पूर्व ही बंगाल के किसानों ने हड़ताल एवं सत्याग्रह का हथियार उठाकर अपना सुरक्षा की।

<u>दक्कन के किसानों का असंतोष (मराठा-विद्रोह) (The Maratha Revolt)</u>

बंगाल की ही तरह दक्कन के किसान भी असंतोष की अग्नि में सुलग रहे थे। बंगाल में जहाँ नीले साहबों के अत्याचार से किसान त्रस्त थे, वहीं तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी में सरकार के साकार के साथ गुजराती और मारवाड़ी सूदखोरों एवं महाजनों के शोषण का शिकार होना पड़ा। जब किसानों का असंतोष चरम सीमा पर पहुँच गया, तब 1875 ई० में महाराष्ट्र में किसानों ने विद्रोह कर

दिया। विद्रोह के केंद्र पूना और अहमदनगर जिले थे। यद्यपि यह विद्रोह सिर्फ तीन सप्ताहों में ही समाप्त हो गया, तथापि इसके परिणाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हुए।

विद्रोह के कारण

सूदखोरों एवं महाजनों का अत्याचार - 1875 ई० के मराठा-विद्रोह के पीछे मूल कारण था सूदखोरों एवं महाजनों के अत्याचारों और शोषण से मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंबई प्रेसीडेंसी में 1812 ई० में रैयतवाड़ी भू-व्यवस्था लागू की थी, जिसके अनुसार ज़मीन के मालिक को कर सीधा कंपनी को सौंपना पड़ता था। किसान अपनी ज़मीन का मालिक नहीं था। लगान नहीं देने की स्थिति में उसे ज़मीन छोड़नी पड़ती थी। किसान की यह भी त्रुटि थी कि वह लगान गिरवी रखकर, बेचकर या दूसरे को हस्तांतरित कर लगान समय पर जमा करे। इस व्यवस्था में एक तो लगान की राशि बहुत अधिक, करीब 1/2 रखी गई थी तथा यह राशि भी निश्चित नहीं थी। इससे सरकार मनमाना ढंग से बढ़ाती थी। इस व्यवस्था का दूसरा पक्ष किसानों को महंगा पड़ता था। उन्हें लगान की राशि नकद चुकानी पड़ती थी। फसल नष्ट होने या सूखा पड़ने पर भी उन्हें लगान हर हाल में देनी ही जाती थी। ऐसी स्थिति में अपनी ज़मीन को नीलामों से बचाने के लिए किसान महाजनों के कड़े सूद पर पैसा लेकर सरकारी लगान चुकाते थे। इस परिस्थिति में महाजनों की बन आई। सूद से तो उन्हें लाभ होता ही था, अगर किसान अपना कर्ज़ वापस करने में विफल रहता था, तो महाजन स्वयं किसान की ज़मीन नीलाम करवा लेता था। इस कार्य में अदालतों में महाजनों का ही साथ देती थीं। अतः, महाजन किसान की कर्ज़ के बोझ तले दबाए रखते एवं उन्हें ज़मीन से बेदखल करने को हमेशा तत्पर रहते थे। फलतः, किसानों पर कर्ज़ का बोझ बढ़ता गया। अदालतों ने ज़मीन-संबंधी मुक़दमों की संख्या बहुत बढ़ा दी। अहमदनगर और पूना जिले में जो विद्रोह के केंद्र थे, 1851-65 के मध्य महाजनों ने आठ लाख बीघा भूमि ज़ब्त-पदाधिकारी किसानों की इस दुर्दशा से परिचित थे और उन्होंने समय-समय पर सरकार को भावी दुष्परिणामों से आगाह करने की कोशिश भी की थी, परंतु सरकार ने किसानों के असंतोष को दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया।

क़र्ज़ के मुक़दमे में कमी, अकाल और महामारी का प्रभाव - 1875 ई० तक किसानों की दुर्दशा एवं प्रचलित व्यवस्था के प्रति उनका असंतोष चरम सीमा पर पहुँच गया। इस समय तक कपास और अन्य वस्तुओं के मूल्य में भारी गिरावट आई जिससे किसानों को आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। 1868-70 के भयंकर अकाल ने किसानों पर और अधिक बुरा प्रभाव डाला। वे न तो सरकार को लगान चुकाने की स्थिति में रहे और न ही महाजन का कर्ज़ चुकाने की स्थिति में। उनकी ज़मीन हाथों से निकलती रही। महाजन उनका घर भी नीलाम होते थे। यह स्थिति किसानों के लिए असहनीय हो उठी। उनके सामने जीवन-मरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसलिए, उन्होंने संगठित होकर इस शोषण का विरुद्ध संघर्ष करने का निश्चय किया।

विद्रोह का आरंभ एवं स्वरूप

महाजनों का बहिष्कार - किसानों के विद्रोह का पहला वार बहिष्कार, 1874 में प्रकट हुआ। इसके लिए सिर्फ़ ताल्लुके के एक मारवाड़ी महाजन की ज्यादतियाँ उत्तरदायी थीं। मारवाड़ी कालूराम ने कर्रह गाँव के एक किसान का पहले सिर्फ 150 रुपये के बदले नीलाम करवा लिया एवं उसे तोड़ने लगा। किसान ने उससे अनुरोध किया कि वह उसे अपने घर में रहने दे तथा इसके बदले में वह जब तक कर्ज़ नहीं चुका देता है, मकान का किराया देगा, लेकिन मारवाड़ी ने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। विवश होकर किसान बाला साहब देशमुख ने महाजनों के विरुद्ध किसानों को संगठित किया। सभी ने मिलकर महाजनों का बहिष्कार करने का निर्णय किया। गाँव का कोई भी व्यक्ति यहाँ तक कि पानी ढोनेवाला, नौकर तक ने महाजनों का काम करना बंद कर दिया। गाँववालों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं अपनी दुकान खोल ली। गाँववालों के बहिष्कार के सामने महाजन टिक नहीं पाए। उन्हें दूसरा जहाँ जाना पड़ा, लेकिन उनकी गाड़ी हाँकनेवाला भी कोई नहीं था। किसान उन्हें गाँव से बाहर जाना देना चाहते थे। पुलिस की सहायता से ही वे गाँव से बाहर निकल सके। यह महाजनों का पहला राजनीतिक विजय थी। अब वे ज़्यादा संगठित होने का प्रयास करने लगे।

महाजनों का पलायन - इस घटना के बाद भी किसानों के उचित असंतोष को दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। इस बीच किसान अपने-आपको संगठित करते रहे। मई, 1875 में पूना जिले के सुपा नामक स्थान पर किसान बड़ी संख्या में एकत्र हुए। उन्होंने महाजनों अत्याचारों का सामना करने का निश्चय किया। उनका उद्देश्य सिर्फ भय दिखाकर महाजनों से कर्ज़े एवं ज़मीन-संबंधी कागज़ों एवं दस्तावेजों पर अधिकार करना था। महाजनों का प्रदर्शन उसी स्थिति में किया गया, जहाँ महाजनों ने प्रतिरोध किया। किसानों ने बल का प्रयोग छोड़कर उन्हें मार कर भगा दिया एवं उनके अनाज एवं पशुओं के चारे में आग लगा दी। यह विद्रोह अहमदनगर के अनेक स्थानों में फैल गया। गुजराती एवं मारवाड़ी महाजन किसानों का सामना नहीं कर सके व गाँव छोड़कर भागने लगे। विद्रोह का प्रसार अहमदनगर जिले में भी हुआ। महाजनों की स्थिति दयनीय बन गई।

सरकारी दमनचक्र - ऐसी परिस्थिति में सरकार ने किसानों के साथ नहीं, बल्कि महाजनों के साथ ही हमदर्दी दिखाई एवं विद्रोह को शांत करने के लिए पुलिस बल का सहारा लिया। बड़ी संख्या में पूना और अहमदनगर जिले में पुलिस को गाँवों में भेजा गया, जिससे कानून और व्यवस्था स्थापित की जा सके। पुलिस जन-आंदोलन के समक्ष विफल रही। इसलिए, सरकार को सेना की भी सहायता लेनी पड़ी। गाँवों में सामूहिक जुर्माना लगाया गया और विद्रोह की संख्या में किसानों को गिरफ्तार किया गया। सरकारी दमनचक्र और अत्याचारों के सामने किसान टिक नहीं सके। फलस्वरूप, धीरे-धीरे उनकी शक्ति कमजोर पड़ती गई। फिर भी जुलाई, 1875 तक सिरूर-पुर गाँव के किसानों ने महाजनों को खदेड़ दिया। किसानों ने इस विद्रोह के दौरान अदम्य साहस से काम लिया। वे समझते थे कि यदि कर्ज़ और ज़मीन से संबद्ध कागज़ों को महाजनों से छीनकर ही अपने कष्टों से मुक्ति पा जाएँगे, लेकिन वास्तव में ऐसा हुआ नहीं।

<u>विद्रोह का परिणाम एवं इसका महत्त्व</u>

आयोग का गठन - मराठा किसानों का विद्रोह उनकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं ला सका। फिर भी, उनके विद्रोह के कारणों की जाँच करने के लिए दक्कन उपद्रव-आयोग (The Deccan Riots Commission) नियुक्त किया। इस आयोग ने भी यह मत व्यक्त किया कि किसानों की स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि उनके सामने जीवन-मरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसने लगान की अत्यधिक राशि तय करने की भी आलोचना की। आयोग ने किसानों की दशा सुधारने एवं महाजनों के अत्याचारों को रोकने के लिए उपाय भी सुझाए।

कृषक राहत अधिनियम - सरकार ने 1879 ई० में 'कृषक राहत अधिनियम' (The Agriculturists Relief Act) पारित किया। इसके अनुसार किसानों की ज़मीन छीनने पर कुछ प्रतिबंध लगा दिए गए। किसानों को कर्ज़ नहीं लौटाने पर गिरफ्तार करने की व्यवस्था बंद कर दी गई। इस प्रकार, किसान अपने संगठित प्रयासों के कुछ राहत प्राप्त करने में सफल हो सके। यही उनकी विजय थी।

यद्यपि मराठा-विद्रोह बहुत कम समय तक चला, तथापि इससे इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। इस विद्रोह को जन-समर्थन प्राप्त था। इसीलिए, आयोग को किसी भी किसान के विरुद्ध कोई गवाही नहीं मिल सकी। बुद्धिजीवी वर्ग ने भी किसानों का समर्थन किया। समाचारपत्रों में किसानों के आंदोलन के समर्थन में लेख लिखे गए, जिससे किसानों ने अपने अधिकारों और हितों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करने की भावना बलवती हुई। इस आंदोलन के दौरान किसानों ने महाजनों के साथ असहयोग की नीति अपनाई। इस असहयोग की नीति को बाद में स्वाधीनता-संग्राम के दौरान बराबर प्रयोग में लाया गया। किसानों ने सरकार को बाध्य कर दिया कि वह उनकी उचित कठिनाइयों की तरफ ध्यान दे। किसान भी अब अधिक जुझारू रुख अपनाने लगे। मराठा कृषक-आंदोलन के बाद के किसान-आंदोलनों के लिए प्रेरणा-स्रोत का काम किया। 1879 में पुनः वासुदेव बलवंत फड़के ने विद्रोह कर हिंदुओं की स्वतंत्रता का प्रयास किया।

इन दो विद्रोहों के अतिरिक्त 1919 तक किसानों के अन्य आंदोलन भी हुए। इनमें से प्रमुख थे पवना और मोपला के किसानों का आंदोलन, दरभंगा, चम्पारण एवं खेड़ा के किसानों द्वारा चलाए गए आंदोलन।

पबना (Pabana)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के पबना नामक स्थान में भी किसानों ने जमिंदारी शोषण के विरुद्ध विद्रोह किया। यह विद्रोह जितना अधिक जमिंदारों के विरुद्ध था उतना सूदखोरों और महाजनों के विरुद्ध नहीं। 1870-80 के दशकों में पूर्वी बंगाल (आधुनिक बांग्लादेश) के किसानों पर आर्थिक दृष्टि से बढ़ाए गए ममनात्क (किराया) के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। इस समय यहाँ की आर्थिक दृष्टि से समृद्ध इलाका था। 1859 में अनेक किसानों को जमीन पर कुछ स्वामित्व दिए गए थे। उस समय यहाँ बेदखली नहीं किया जा सकता था। लगान वृद्धि ओर भी अत्यधिक समस्या बन गया था, इसके बावजूद जमिनदार मनमानी ढंग से लगान बढ़ा देते थे। यही नहीं, लगान वृद्धि का अनुमान लगाया जाता। 1873 में पबना के किसानों द्वारा किया गया विद्रोह इसी के विरुद्ध था। इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य शोषण के विरुद्ध किसानों को एकत्र करना था। जमिनदारों से मुकदमा लड़ने के लिए धन राशि इकठ्ठी की गई। किसानों ने लगान देना कुछ समय के लिए बंद कर दिया। धीरे-धीरे पबना के आंदोलन का विस्तार हो गया। कई जगहों पर वकील, क्लर्क, राजाज्ञाएं आदि किसानों का मार्गदर्शन करने लगे। किसानों ने जमिनदारों के विरुद्ध शांति पूर्वक विरोध किया। हिंसा नहीं हुई। किसान शांतिपूर्ण तरीके से अपने हितों की सुरक्षा की माँग कर रहे थे। उनका आंदोलन सरकार विरोधी भी नहीं था।

पबना आंदोलन को अप्रत्यक्ष रूप से सरकार का समर्थन प्राप्त हुआ क्योंकि यह सरकार विरोधी नहीं था। 1873 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर कैप्टन ने किसान संगठनों को जायज ठहराया। बंगाल के जमिनदारों ने इस आंदोलन को साम्प्रदायिक रूप देना चाहा। जमिनदारों के अनुसार हिन्दू किसान मुस्लिम जमिनदारों के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे, लेकिन वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं थी। इस आंदोलन में हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से सम्मिलित थे। आंदोलन के नेता भी दोनों वर्गों से आते थे, जैसे ईशान चन्द्र राय, शम्भु पाल एवं खुदी मोल्लाह। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप 1885 का बंगाल काश्तकारी कानून (बंगाल टेनेंसी एक्ट) पारित किया गया जिसमें किसानों को कुछ राहत पहुँचाने की व्यवस्था की गई।

मोपला विद्रोह (The Mopala Rebellion)

पूर्वी बंगाल के ही समान मद्रास प्रेसिडेंसी के मालाबार में मोपला का विद्रोह हुआ। मालाबार मुस्लिम बहुसंख्यक इलाका था। ये मुसलमान मोपला के नाम से जाने जाते थे। मोपला ज्यादातर मामूली हिन्दू जमींदार अथवा चालुक्य बामनों के खेतों पर काम करने वाले थे। अशिक्षित होने के कारण उनमें धार्मिक उन्माद अधिक था। मोपला विदेशी शासन, हिन्दू जमिदारों और साहूकारों दोनों से ग्रस्त थे। अपनी दयनीय स्थिति से व्यथित होकर 19-20वीं शताब्दियों में मपोलाओं ने बार-बार विरोध और आन्दोलर प्रकट किया। 1857 से पूर्व मोपलाओं के करीब 22 आंदोलन हुए। 1882-85, 1896 और 1921 में भी मोपला विद्रोह हुआ। 1870 में सरकार ने मालाबार में बार-बार होनेवाले विद्रोहों के कारणों का पता लगाने के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की थी। उसमें इनका कारण जमींदार अथवा जमिनदारों द्वारा किसानों से बेदखली करना, भूमि लगान एवं ममनाना वृद्धि बताया गया था। एक अनुमान के अनुसार 1862-1880 के मध्य 28 वर्षों में बेदखली और बकाया वसूली के 60000 मुकदमे दर्ज हुए। 244 गाँवों में बेदखली हुई। इसका किसानों में असंतोष एवं आर्थिक शोषण की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

मोपला के किसान अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इसीलिए उनका आंदोलन शांतिपूर्ण नहीं था बल्कि यह हिंसात्मक था। इसमें धार्मिक उन्माद की भी प्रदर्शनी हुआ यद्यपि उनके दृष्टिकोण से अत्याचार छिपा हुआ था। मपोलों ने विद्रोह के समय पुलिस थानों पर आक्रमण किया और मंदिरों की संपत्ति भी लूटी गई। साहूकारों को भी नहीं बख्शा गया। छोटे-छोटे झुंडों में मपोलों ने तलवार आदि से लैस होकर विद्रोह किया। विद्रोह की भयावहता को देखकर सरकार ने विद्रोह को कुचलने का प्रयत्न किया। मपोलों को

पकड़कर पुलिस की गलियों से मौतें डराया दो और हिंसक मौत की सज़ा दी जाती थी। उनके मन में यह भावना बैठ गई थी कि इस आंदोलन में शहीद प्राप्त कर वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। परंतु सरकार ने बलपूर्वक उनके दवा दिया। संगठनात्मक कमजोरियों के कारण भी वे लम्बे समय तक संघर्ष नहीं कर सके। मोपलाओं को अपने आंदोलन में कुछ बड़े किसानों का भी सहयोग नहीं मिला। मोपलाओं का सबसे बड़ा आंदोलन 1921 में हुआ जिसे दबाने के लिए सरकार को सेना की सहायता लेनी पड़ी।

चंपारण का किसान आंदोलन (The Peasant Movement of Champaran)

20वीं शताब्दी के आरम्भिक चरणों में चंपारण के किसानों का आंदोलन हुआ जिसकी गूंज पूरे भारत में हुई। इस आंदोलन का प्रमुख महत्त्व इसलिए हो गया क्योंकि यहीं से महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश होता है। सत्याग्रह का आरम्भ चंपारण से ही हुआ।

उत्तर प्रदेश से नेपाल से सटे हुए चंपारण में नील की खेती बहुत दिनों से होती थी। इस जिले के बेतिया, रामनगर, मधुबनगंज, मझौलिया और बेतिया आदि इलाकों में विशेषकर नील की खेती होती थी। इसे यहाँ 'तीनकठिया'-प्रथा कहा जा रही थी। इसके अनुसार प्रत्येक किसान को अपनी खेती योग्य जमीन के 3/20 हिस्से पर नील की खेती करनी पड़ती थी। किसानों अपनी खेती अपनी मर्जी से बुआई नहीं कर सकते थे। अने बाजार में नील की कीमत घटने पर बगान मालिकों को ही नील बेचनी पड़ती थी। इससे किसानों का आर्थिक शोषण होता था। 1900 के बाद जब नील की खपत कम होने लगी और इसका मूल्य घटने लगा तब निल्हों ने इसका बोझ किसानों पर डालना चाहा और मजबूर किया कि किसान इसकी क्षतिपूर्ति लग कर करें। अगर कोई किसान नील की खेती से मुक्त होना चाहता था तो उसके लिए आवश्यक था कि वह बगान मालिक को एक बड़ी राशि 'तावान' के रूप में दे। किसानों से जबर्दस्ती वसूली जाती थी और स्थिति दिनानुदिन विकराल और अशांतिपूर्ण हो गई।

निल्हों के अत्याचारों के विरुद्ध चंपारण के किसानों ने समय-समय पर विरोध प्रकट किया था। 1905-08 के मध्य मोतिहारी और बेतिया के निकटवर्ती इलाकों में किसानों ने पहली बार जागकर जोर का आंदोलन का सहारा लिया। इस आंदोलन के दौरान हिंसा भी हुई लेकिन सरकार ने तुरंत 1917 में स्थिति को संभालने हेतु चंपारण की ओर गांधी जी को भेजा और उन्होंने मुकदमे चलाए गए। अनेकोंने को सजाएँ भी हुई, लेकिन किसानों ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने अपना संघर्ष जारी रखा।

इस आंदोलन में किसानों की सहायता कुछ संपन्न किसानों एवं कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने भी की। 1916 ई. में राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी को चंपारण लाने और यहाँ के किसानों की हालत देखने हेतु आमंत्रित किया। गाँधीजी 1917 में चंपारण गए। उनका प्रभाव स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं के साथ उन्होंने किसानों की दयनीय स्थिति की जानकारी के बड़ी संख्या में अधिवक्ताओं के पास मिलें व अत्याचारों की शिकायतें लेकर आए। गांधीजी ने किसानों को अधिकारप्राप्त आंदोलन चलाने की प्रेरणा दी। इस प्रकार किसानों में नया जोश पैदा हुआ और एकता की भावना बढ़ी।

सरकार गांधीजी की लोकप्रियता से चिंतित हुई। उन्हें गिरफ्तार कर उनपर मुकदमा चलाया गया लेकिन जनता की इच्छा के दबाव में छोड़ दिया गया। किसानों की शिकायतों को देखने के लिए सरकार ने जून 1917 में चंपारण में एक जाँच समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने किसानों के साथ हो रहे अन्याय को स्वीकार किया। समिति की सिफारिशों पर चंपारण कृषि अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार तीनकठिया-प्रथा समाप्त कर दी गई। किसानों को इससे बहुत बड़ी राहत मिली। किसानों में नई चेतना आयी और वे भी भविष्य में आंदोलन को अपना समर्थन देने लगे।

खेड़ा (खेड़ा) का किसान आंदोलन (The Peasant Movement of Kheda)

चंपारण के अतिरिक्त खेड़ा (गुजरात) में भी 1918 ई. में किसान आंदोलन हुआ। गांधीजी ने यहाँ भी किसानों की स्थिति सुधारने के लिए कार्य किया। खेड़ा में भी लगान वृद्धि और अन्य शोषणों से किसान पीड़ित थे। कभी-कभी वे अपना आक्रोश

लगान रोक कर प्रकट किया करते थे। 1918 ई० में सूखा के कारण फसल नष्ट हो गई। ऐसी स्थिति में किसानों की कठिनाइयाँ बढ़ गई। भूमिकर नियमावली के अनुसार यदि किसी वर्ष फसल साधारण से 25 प्रतिशत कम हो जाती है तो बकाया राशि माफ हो जाती है। किसानों ने जब बनारस सरकार को अपनी कठिनाई सुनाई, तब सरकार मानने को तैयार नहीं थी, लेकिन जब बहुत हल्ला हुआ, किसानों को छूट देने को तैयार होती दिखाई दी कि कुछ छूट दी जाए। लेकिन, किसानों पर दबाव डाला गया।

चंपारण के बाद गांधीजी ने खेड़ा के किसानों की ओर ध्यान दिया। उन्हें किसानों की दुर्दशा की जानकारी स्थानीय कार्यकर्ताओं से प्राप्त हुई। किसानों पर गांधीजी का प्रभाव पड़ने लगा। किसानों की कठिनाइयों के कारण सरकार ने किसानों की वसूली बंद कर दिया। किसानों ने जो फसल लगाई उसकी स्थिति भी खराब थी, परन्तु उस पर भी लगान देना पड़ रहा था। इसी वजह से वहाँ कृत्रिम सरकारी धमकियों से भी वे नहीं डरे। इसी आत्मबल से उन्होंने आंदोलन जारी रखा।

सन 1918 तक खेड़ा का किसान आंदोलन व्यापक रूप से फैल चुका था। किसानों के प्रतिरोध ने सरकार को झुकना पड़ा। सरकार ने किसानों को लगान में राहत दी। इसी आंदोलन के दौर सर्दार वल्लभभाई पटेल गांधीजी के सम्पर्क में आए। बाद में वे उनके प्रमुख अनुयायी बन गए।

चंपारण तथा खेड़ा के किसान आंदोलनों का विशेष महत्त्व है। ये दोनों आंदोलन, पहले के आंदोलनों से विभिन्न परिस्थितियों थे। किसानों ने न्याय के लिए सरकार का प्रभाव स्वीकार किया था, फिर दबाव डालकर उसमें सुधार लाए। दोनों ही स्थानों पर किसानों की विजय हुई। इन आंदोलनों के परिणामस्वरूप किसानों में आत्मविश्वास की भावना जगी। 1919 ई० के पश्चात किसानों ने अधिक संगठित रूप से आंदोलन किए। किसान सभा नामक शक्तिशाली किसान संगठन की स्थापना भी हुई।

दरभंगा में किसान आंदोलन (The Peasant Movement in Darbhanga)

बिहार में चंपारण के अतिरिक्त तत्कालीन दरभंगा राज्य में भी किसान आंदोलन हुआ। इस आंदोलन का कारण भी राज्य के अधिस्वामियों (छोटे जमींदारों) द्वारा किसानों का शोषण था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बढ़ती महँगाई ने किसान वर्ग को अत्यधिक प्रभावित हुआ था। इसके अतिरिक्त यहाँ का अत्यधिक चरागाह या लकड़ी-पशुधन विवाद भी होते थे। जमींदार किसानों से लगान के अतिरिक्त कर लेने लगे थे जिससे किसानों की स्थिति बिगड़ने लगी थी। राज्य प्रशासन के कुछ कर्मचारी किसानों से असंतोष सुनता रहा था। 1919 से किसानों ने इस शोषण के विरुद्ध संगठन तैयार किया। किसानों की बढ़ती शक्ति ने जमींदारों को चिन्तित कर दिया। उन्होंने किसानों को संगठित आंदोलन करने से रोकने हेतु स्वतंत्र प्रयास किया। चंपारण आंदोलन तथा दरभंगा आंदोलन में स्वामी विद्यापति का महत्वपूर्ण प्रभाव था। उनके नेतृत्व में किसानों ने संगठित संघर्ष किया। 1920 ई० से दरभंगा राज्य में किसानों को कुछ रियायतें प्रदान की गईं। 1920 ई० तक यह आंदोलन समाप्त हो गया। यह आंदोलन मुख्यतः बड़े किसानों का था।

आदिवासियों के आंदोलन (The Tribal Movements)

बिहार में छोटानागपुर और संथाल परगना के आदिवासियों ने 1857 ई० के पूर्व भी सरकारी नीतियों, साहूकारों एवं महाजनों (दिक्कू) के शोषण के विरुद्ध विद्रोह किया था। इन विद्रोहों का कारण मुख्यतः आर्थिक शोषण था। उनकी स्थिति स्थाई रूप से बदतर होती जा रही थी। इसके विरुद्ध होकर आदिवासियों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी में आंशिक रूप से विद्रोह किए। इन विद्रोहों के दौरान पहली बार आदिवासियों ने धर्म के नाम पर भी संगठित होने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में दो विशेष उल्लेखनीय विद्रोहों में निम्न विद्रोह प्रमुख हैं। ये विद्रोह थे सरदार और मुंडा आंदोलन (छोटानागपुर) तथा खेरवार आंदोलन (संथाल परगना)।

(a). सरदार आंदोलन (1858–1895) (The Sardar Movement)

छोटानागपुर में 1857 ई० के बाद सरदार आंदोलन बड़े पैमाने पर हुआ। इसमें मुंडा, उरांव और ईसाईयों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। 'सरदार' शब्द का सामान्य अर्थ नेता होता है, लेकिन इस आंदोलन के नेता सरदार उस सभी को कहा गया जिन लोगों ने आदिवासियों के परंपरागत जमींदारों अधिकारों को वापस दिलाने का प्रयास किया। यह आंदोलन विभिन्न चरणों में 1858 ई० से 1895 ई० तक चला।

<u>आंदोलन के कारण</u>

ईसाई मिशनरियों का प्रभाव – इस आंदोलन का मुख्य कारण छोटानागपुर की भूमि-व्यवस्था और ईसाई मिशनरियों के प्रचार कार्य से उत्पन्न परिस्थितियाँ थीं। छोटानागपुर में 1845 ई० से ही ईसाई मिशनरियों ने अपना धर्म-प्रचार कार्य आरम्भ कर दिया था। उनके धर्म-प्रचार के कार्य मुख्यतः जमीन लूटने मिशनरियों ही करती थीं। ये आदिवासियों को ईसाई बनाकर जमीन हथियाने की प्रक्रिया में लग जाती थीं। परिणामस्वरूप ईसाई और आदिवासियों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। मिशन की सहायता से आदिवासियों ने जमीनों से बेदखल की गई जमीन वापस लिया। इस प्रक्रिया में कुछ हिंसाएँ भी हुईं। 1859 ई० में जमींदारों और आदिवासियों के बीच हिंसात्मक संघर्ष भी हुआ।

जमीन का सर्वेक्षण – 1860 ई० में सरकार ने भुंइहरी जमीन (आदिवासियों का वंशानुगत जमीन जिनके लगान की राशि बहुत कम थी) का सर्वे कर आरम्भ किया। इस कार्य को महाराजा रांची एवं महराजा लोहरदगा को सौंपा। यदि शाहि पर मुंडाओं ने आरोप लगाया कि उन्होंने जमींदारों का पक्ष लिया। तथापि इस सर्वे के परिणामस्वरूप अधिकारियों भुंइहरी जमीन आदिवासियों को वापस कर दी गई।

छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम – 1862 में सर्वे समाप्त होने के बाद कुछ असन्तुष्ट मुंडाओं ने अपना प्रतिरोध प्रकट करना आरंभ किया। यही 'सरदार' आंदोलन का रूप बन गया। 1867 में करीब 14,000 आदिवासियों के हस्ताक्षर से युक्त एक आवेदन बंगाल सरकार को दिया गया। जिसमें आदिवासियों ने आरोप लगाया कि छोटानागपुर क्षेत्रवासी उन्हें उनके जमीन से बेदखल कर रहे हैं। सरकार ने समस्या के समाधान हेतु 1869 ई० में छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम (Chotanagpur Tenures Act, 1869) पारित किया। इससे आदिवासियों के जमीन का सर्वे करने की पुनः व्यवस्था की गई।

जमीन संबंधी शिकायतें – नई व्यवस्था के अनुसार छोटानागपुर में पुनः व्यापक पैमाने पर सर्वे का कार्य हुआ। यह 1869 ई० से 1880 ई० तक चला। इस बार भुंइहरी और अन्य जमीन का पुनः सीमांकन कर वर्गीकृत किया गया। सर्वे अधिकारी विवादास्पद जमीन के मामले भी शांति से सुलझाने लगे। इससे सरदारों को अधिक बल मिला। वे भुंइहरी में परिवर्तन करने का प्रयास करने लगे। इस प्रक्रिया में उन्हें ईसाई मिशनरियों का समर्थन मिला। बावजूद सभी आदिवासियों की जमीन-संबंधी शिकायतें दूर नहीं हो सकीं। उन लोगों ने सरकार और भूपतियों पर दबाव डालना आरंभ किया।

रोमन कैथलिक मिशन का बढ़ता प्रभाव – 1876 ई० में लूथर मिशन ने आदिवासियों की ओर से सरकारी सर्वे में पक्ष रखने हेतु ज्ञापन दिए परंतु सरकार ने इसपर ध्यान नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्हें आदिवासियों के जमीन-संबंधी मामलों से अलग रहने की भी सलाह दी गई। मिशन ने अधिवक्ताओं को जमीन के लिए जत्थाबंद मुंशी के लेख पर भी विवाद उत्पन्न हुआ। 1880 ई० के दशक में छोटानागपुर क्षेत्र के कैथलिक मिशन अधिक प्रभावशाली हो गया। पादरी लिंडसे ने आदिवासियों को जमीन-संबंधी शिकायतों को लेकर जागरूक किया। इनके सहयोग से सरदार आंदोलन में अधिक संगठन और शक्ति आ गई। इसके परिणामस्वरूप ज़मींदारों और आदिवासियों का संघर्ष और अधिक बढ़ गया।

आंदोलन का उद्देश्य एवं स्वरूप

आदिवासियों का मानना था कि जमीन पर उनका पैतृक अधिकार है। राजा अथवा दीकू को लगान लेने अथवा किसी अधिकार नहीं है। इसलिए लगान लेने और किसी को भूमि से बेदखल करने का विरोध करने के लिए आदिवासियों ने सरदार आंदोलन चलाया। सरदारों ने नारा दिया—"आधा करो आधा करो", अर्थात् आदिवासी भूमि के उपज के लिए काम करें और उसके लिए शून्य अथवा आधा लगान देना चाहते थे। वे अंग्रेजों को यह स्पष्ट करना चाहते थे कि वे दीकू नहीं हैं इसलिए उन्हें आदिवासियों की भूमि पर ब्रितान सरकार को लगान देने का अधिकार नहीं है। परंतु पुनःप्राप्त की गई भूमि को आदिवासी सरकार के अधीन मानते थे और यह मानते थे कि यदि भविष्य में कोई विवाद उत्पन्न हो तो उसे वे ही निपटा सकते हैं। यही कारण है कि कुछ क्षेत्रों में आदिवासी उन विवादित भूमि को अपने नाम पर लिखवाना नहीं चाहते थे। वे भूमि को महाराजा, हिन्दू और स्थानीय कर्मचारियों को नहीं मानते थे बल्कि अपने अधिकारों के रूप में ही दिखलाते थे।

यह आंदोलन गैर राजनीतिक था। यह राजनीतिक भी नहीं था। सरदारों ने अपने असंतोष को आंदोलन के जरिए जाहिर किया। सरदारों ने ब्रिटिश सरकार के उच्चाधिकारियों जैसे लेफ्टिनेंट गवर्नर, वायसराय, भारत सचिव (Secretary of State for India)—को अनेक बार ज्ञापन भेजा। सरदारों ने गाँव-गाँव घूमकर आदिवासियों को समझाने की और उन्हें संगठित किया। उन्हें आंदोलन करने, मुकदमा करने और लड़ाई लड़ने पर दीकुओं के विरुद्ध द्वेष और करार करने को कहा गया। मुकदमा लड़ने के लिए आदिवासियों को उचित इकठ्ठा किया गया।

सरदार आंदोलन के समर्थक और कुछ आदिवासियों ने कभी-कभी न्यायालय का मार्ग छोड़कर संघर्ष का रास्ता भी अपनाया। जमीन पर जबरदस्ती कब्जा करने वाले दीकू जमींदारों और पुलिस ने जब उन्हें जमीन से बेदखल करना चाहा तब कभी-कभी हिंसक संघर्ष भी हुआ। 1889 में आंदोलन तीव्र हो गया। आदिवासियों ने जमीन को अपने स्वार्थ में आपस में ही बाँट लिया। लगान देने से मना कर दिया। ज़मींदारी साझी में वे अतिक्रमण कर रहे थे। सरकारी खजानों में जमा कर देने के लिए जमींदार को नहीं देते थे। जमींदारों को आदिवासियों से बाहर लेने भी कठिन हो गया। सरदारों ने ब्रिटिश सत्ता को कभी चुनौती नहीं दी लेकिन कुछ सरदारों ने प्रचार एवं स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों से मुक़दमा परिवाद प्रस्तुत कर विद्रोहात्मक रूप में आंदोलन चलाया। ईसाई आदिवासियों ने प्रायः चर्च एवं स्कूलों का बहिष्कार किया। कभी-कभी आदिवासियों ने उस रूप से भी अपनाया और सरकार को पुलिस का भय दिखलाना पड़ा। अनेक आदिवासियों ने झारखंड छोड़ना शुरू किया। सरदार आंदोलन को सरकार ने विध्वंस आंदोलन कहा। 1890 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने छोटानागपुर का दौरा किया। आदिवासियों को सरकारी ऋण देने हेतु विधेयक पारित किया गया परंतु कुछ भी पूरा नहीं किया गया। इसलिए मुंडाओं ने 1895 के दशक में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में संघर्ष और आंदोलन चलाया।

सरदार आंदोलन ने दो भाग्य बनाए: मुंडा और ईसाई आदिवासी थे। इस आंदोलन के दौरान ईसाई और गैर-ईसाई आदिवासियों को आपसी समर्थन मिला। गैर-आदिवासियों ने इस आंदोलन में बहुत अधिक समर्थन व्यक्त नहीं किया। लेकिन वहीं जो आदिवासियों से मुकदमे लड़ते थे, जमीन पर लगान लगाते थे, आदिवासियों से कार्य करवाते थे उनके प्रति आदिवासियों का असंतोष बढ़ता गया। आदिवासी संगठनात्मक दुर्बलताओं के कारण यह आंदोलन 1895 तक समाप्तप्राय हो गया।

बिरसा मुंडा आंदोलन (The Birsa Munda Movement)

1857 के पूर्वाध मुंडाओं ने सरदार आंदोलन चलाया लेकिन इससे मुंडा और अन्य आदिवासी जातियों में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया। शांति/न्यायपूर्ण उपायों से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में विफल होकर मुंडाओं ने उस रूप को अपनाया।

आंदोलन का उद्देश्य

सरदार आंदोलन के विपरीत बिरसा आंदोलन उग्र और हिंसक था। वह धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में चलाया गया। इसलिए इसका उद्देश्य धार्मिक और आर्थिक था। यह एक ही साथ धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तन तथा भूमि पुनरुद्धार चाहता था। इसका अधिक श्रेय विष्णु दिगंबर जोशी द्वारा हथियार गए आदिवासियों को कर मुक्त भूमि की वापसी जिसके लिए आदिवासी लंबे समय से संघर्ष कर रहे थे, मुंडा सरकार से न्याय पाने में विफल होकर अँगरेजी राज को समाप्त करने एवं मुंडा राज की स्थापना का लक्ष्य देखने लगे। वे सभी ब्रिटिश अधिकारियों और ईसाई मिशनरियों को अपने नए शत्रु के रूप में देखने लगे थे। आंदोलन का उद्देश्य मुंडाओं के लिए एक नए युग की स्थापना करना था। इस आंदोलन के नेता बिरसा मुंडा थे जिन्होंने धर्म का सहारा लेकर मुंडाओं को संगठित किया। उनके नेतृत्व में मुंडाओं ने 1899-1900 ई० में विद्रोह कर दिया।

बिरसा मुंडा का नेतृत्व - बिरसा मुंडा (1874-1900) एक पढ़े-लिखे युवा नेता थे। आदिवासियों की दयनीय दशा को देखकर उन्हें जागीरदारों और ठेकेदारों से संघर्ष करने की प्रेरणा मिली। उन्होंने यह भी दावा किया कि सर्वशक्तिमान तरीकों से न्याय पाने का प्रयास विफल हो चुका था। इसलिए उन्होंने नवयुवकों को संगठित करना आरंभ किया। उनपर वैष्णव धर्म का प्रभाव था। इसलिए उन्होंने दावा किया कि वह भगवान् है और उनके पास अलौकिक शक्तियाँ हैं। उनकी बातों से प्रभावित होकर बड़ी संख्या में मुंडा उनकी ओर खिंचने लगे। मुंडाओं ने उन्हें अपना उद्धारक एवं भगवान् मान लिया। उनके प्रेरक शब्दों मुंडाओं के लिए ब्रह्मास्त्र बन गए। बिरसा भगवान् ने घोषणा की कि उनका प्रयोजन अंगरेजों के राज (ब्रिटिश राज) समाप्त हो गया है और मुंडाराज स्थापित हो गया है। इसलिए कोई भी सरकार को कर नहीं दें। मुंडाओं ने उनके आदेश का अक्षरशः पालन किया।

1895 ई० में बिरसा मुंडा को विद्रोह फैलाने और राजद्रोही षड्यंत्र करने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें दो वर्ष के लिए जेल भेज दिया गया। नवंबर 1897 में बिरसा जेल से रिहा हुए। जेल से रिहा होने के पश्चात वे पहले से भी अधिक जोश के साथ मुंडाओं को संगठित करने लगे। जंगल में घूम-घूमकर रात्रि में गुप्त सभाएँ की जाती थीं एवं मुंडाओं के लिए नया नेता चुनने का कार्य जारी था। वे स्वयं महादानी विक्टोरिया के पुतले पर तीर से वार कर तीरंदाजी का अभ्यास करते थे। मुंडाओं की टोलीदारों, जागीरदारों, सरकारी अधिकारियों एवं ईसाइयों की हत्या करने की कक्षा चलाती थी। गाँवों के माध्यम से यह संदेश घर-घर पहुँचाया जाता था। बिरसा ने लोगों को यह आश्वासन भी दिया कि सरकार उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। पुलिस और सेना की गोली पानी बन जाएगी। इससे मुंडाओं ने नया जोश उत्पन्न हुआ और वे विद्रोह के लिए तैयार हो गए।

विद्रोह और दमन - 1899 ई० में क्रिसमस के दिन मुंडाओं का व्यापक और हिंसक विद्रोह आरंभ हुआ। सबसे पहले ईसाई बनने और सरकार के समर्थक मुंडाओं को समाप्त करने का प्रयास हुआ लेकिन बाद में इस नीति में परिवर्तन किया गया। धर्म परिवर्तित मुंडाओं के विरुद्ध आक्रोश कम हो गया और सरकार और मिशनरियों के विरुद्ध असंतोष बढ़ गया। राँची और सिंहभूम में अनेक चर्चों एवं थानों पर आक्रमण किए गए। पुलिस मुंडाओं के क्रोध का विशेष शिकार बनी। राँची और इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में आतंक का राज्य स्थापित हो गया। विद्रोह का प्रभाव समूचे छोटानागपुर में फैल गया।

विद्रोह होकर सरकार ने विद्रोह का दमन करने का निश्चय किया। सरकार को पुलिस और सेना की सहायता लेनी पड़ी। मुंडाओं ने छापामार युद्ध का सहारा लेकर पुलिस और सेना का सामना किया लेकिन बंदूक के सामने तीर-कुल्हाड़ी कब तक टिकती ? फरवरी 1900 ई० में बिरसा गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें राँची जेल में रखा गया। उनपर सरकार ने राजद्रोह का मुकदमा चलाया। मुकदमे के दौरान जेल में ही हैजा हो जाने से बिरसा की मृत्यु 9 जून 1900 को हुई। बिरसा की गिरफ्तारी और मौत ने आंदोलनकारियों की कमर तोड़ दी। सरकार ने अनेक मुंडाओं पर मुकदमा दायर कर उन्हें दंडित किया। बिरसा के तीन प्रमुख सहयोगियों को फाँसी की सजा दी गई। अनेक मुंडाओं को कालापानी और जेल की सजाएँ दी गईं।

परिणामस्वरूप बिरसा मुंडा आंदोलन भी विफल हो गया। आदिवासियों को इस आंदोलन से तत्काल कोई लाभ तो नहीं हुआ परंतु सरकार को उनकी गंभीर स्थिति पर विचार करने को बाध्य होना पड़ा। आदिवासियों की जमीन का सर्वे करवाया गया। 1908 ई० में छोटानागपुर काश्तकारी कानून (Chotanagpur Tenancy Act, 1908) पारित हुआ। मुंडाओं को

जमीन-संबंधी अधिकार मिले एवं बेगारी प्रथा भी मुक्त हुई। मुंडा आज भी बिरसा को अपना भगवान मानते हैं। घर-घर उसके चित्रों में लोकगीत गाए जाते हैं।

टाना भगत आंदोलन (The Tana Bhagat Movement)

मुंडा आंदोलन के अतिरिक्त छोटानागपुर के उराँव आदिवासियों ने टाना भगत आंदोलन भी चलाया। प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर जतरा भगत के नेतृत्व में यह आंदोलन आरंभ हुआ। इस आंदोलन का भी उद्देश्य आदिवासियों की जमीन-संबंधी समस्याओं को सुलझाने के साथ-साथ उराँवों में प्रचलित सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों को दूर कर एक नई व्यवस्था स्थापित करना था। इसके बाद बूढ़ा भगत आंदोलन चला। यह आंदोलन बहुत अधिक व्यापक बन गया। गांधीजी के असहयोग आंदोलन में टाना भगत आंदोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

खिरवार आंदोलन (The Kherwar Movement)

1857 ई० के पश्चात् छोटानागपुर के अतिरिक्त संथाल परगना भी संथालों की गतिविधियों से अशांत रहा। हूलों ने पहले भी बता दिया है कि हिंसक शोषण के विरुद्ध संथालों ने बगावत की थी। 1855 ई० के संथाल विद्रोह के बाद सरकार ने संथाल परगना नामक जिला बनाया एवं इसे बंगाल में प्रचलित कानूनों से मुक्त रखा। संथालों की समस्याओं को सुलझाने के अन्य प्रयास भी किए गए। 1857 ई० के विद्रोह के दौरान सरकार का ध्यान इस क्षेत्र से हट गया। इसके साथ-साथ धीरे-धीरे संथाल परगना में प्रचलित सभी कानून लागू हो गए। इससे संथालों की स्थिति पहले जैसी ही हो गई। जागीरदार मनमानी लगान की राशि बढ़ाते एवं संथालों की जमीन से बेदखल करने लगे। इससे उनका असंतोष बढ़ने लगा। इसी समय कुछ संथाल नेताओं ने धर्म का सहारा लेकर संथालों को संगठित करना आरंभ किया। इन नेताओं ने आंदोलन चलाया जिसका उद्देश्य एक ही सच्चा भगवान की सामाजिक और आर्थिक प्रथा के लिए संघर्ष करना और जमींदारों द्वारा उनके शोषण का विरोध करना था। सरदार आंदोलन की ही तरह खिरवार आंदोलन भी आरंभिक था। इस आंदोलन ने हिंसा का सहारा बहुत कम ही लिया गया।

आर्थिक शोषण के विरुद्ध आंदोलन - 1861 ई० से संथालों ने असंतोष उभड़ने लगा। आर्थिक शोषण के विरुद्ध संथालों ने विरोध प्रकट किया। वे नील की खेती करनेवाले किसानों के विद्रोह से प्रभावित थे। उनके विरोध को देखते हुए सरकार ने बड़े हुए लगान की राशि समाप्त कर दी। इससे विरोध समाप्त हो गया। 1865 ई० में संथालों के एक मुखिया ने करों का भुगतान करने के प्रयास का विरोध किया लेकिन सरकार ने उसे गिरफ्तार कर उसके प्रभाव समाप्त कर दिया। 1871 ई० में संथालों का असंतोष पुनः भड़क उठा। बढ़े हुए लगान की राशि एवं अपने मुखियाओं के विरुद्ध किए जाने से संथाल क्रुद्ध हो गए। संथालों ने अनेक सभाएँ कीं एवं सरकारी कर्मचारियों के पास शिकायत कर अपना विरोध प्रकट किया। संथालों का उग्र रूप देखकर अनेक गैर-आदिवासी संथाल परगना से भाग गए। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने स्थिति की गंभीरता को स्वीकार किया। उसने संथालों की समस्याओं की जाँच के लिए जाँच समिति स्थापित करने का स्वीकार किया।

संथाल परगना बंदोबस्ती अधिनियम - 1872 ई० में संथाल परगना बंदोबस्ती अधिनियम (Santhal Parganas Settlement Regulation, 1872) पारित किया गया। संथाल परगना में जमीन का सर्वे कर जमीन-संबंधी विवाद दूर करने का प्रयास किया गया। बंदोबस्ती अधिकारियों ने संथाल मुखियाओं के अधिकार वापस दिलाए तथा उनलोगों की जमीन पुनः लौटा दी जिसे जबरदस्ती छीना गया था। किसानों को जमीन पर स्थायी और सुरक्षित अधिकार दिया गया। इस बंदोबस्ती में एक कमजोरी यह थी कि बंदोबस्ती कर्मचारियों को अत्यधिक अधिकार दिए गए, जिससे दुष्ट स्वभाव के उन लोगों ने किसानों का शोषण किया। परिणामस्वरूप बंदोबस्ती मुकदमों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। इसके बावजूद शांति बनी रही।

भागीरथ का नेतृत्व - इसी समय भागीरथ के नेतृत्व में संथाल आंदोलन ने एक नया रूप हासिल किया। इसपर धर्म एवं राजनीति हावी हो गए एवं जमीन-संबंधी विवाद अपना पूर्व महत्ता खो बैठा। भागीरथ का आंदोलन 1874-75 ई० में संथालों में बहुत व्यापक एवं प्रभावशाली बना रहा। भागीरथ एक संथाल मुखिया था। आरंभ में उसने दावा किया कि उसे किसी भी वस्तु जब संथालों का उपयोग करते हैं तब संथाल देवताओं ने भेजी है। उसने 1855 ई० के संथाल विद्रोह के भूले हुए भाग को जगाया। 1868 ई० में उसे गिरफ्तार करने के लिए जेल की सजा हुई थी। 1871-72 ई० के दौरान छोटे-मोटे भूमि-संबंधी आंदोलन में भी उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही थी।

संथालों में धार्मिक चेतना जगाना - 1874-75 ई० में संथालों ने नई धार्मिक चेतना जगाकर उन्हें संगठित करने का प्रयास किया। उसने संथालों को आदेश दिया कि वे देवी प्रकोप से बचने के लिए अपने सूअर और मुर्गे मार दें। संथालों ने उसके इस आदेश का पालन किया। गोडडे सबडिवीजन में भागीरथ ने एक नया धर्म का निर्माण करवाया। बड़ी संख्या में संथाल यहाँ आने लगे। भागीरथ को देवता और राजा के समान मान लिया गया। राजा के रूप में उसका अभिषेक हुआ। संथालों ने उसे ही अपना लगान दिया। भागीरथ का प्रभाव संथालों पर बढ़ता गया। उसके अनेक समर्थक बन गए। 1874 ई० के अकाल के बाद सरकारी राहत कार्यों को संथालों ने विरोध किया। इन लोगों ने लगान और बंदोबस्ती का भी विरोध किया तथा संथालों को लगान देने से मना किया। इससे लगान की वसूली कठिन हो गई।

भागीरथ का आंदोलन एक ही साथ धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वरूप का बन गया। सरकार ने इस आंदोलन को दबाने के लिए सख्ती का उपयोग किया। भागीरथ अपने अनेक समर्थकों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। स्थिति पर नियंत्रण रखने के लिए संथाल परगना में सिपाही नियुक्त किए गए। 1875 ई० के बाद यह आंदोलन धीमा पड़ गया। भागीरथ की मृत्यु 1880 ई० में हुई।

दुबिया गोसाई का नेतृत्व - भागीरथ द्वारा आरंभ किया गया आंदोलन पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। भागीरथ के समर्थकों ने संथालों का एक प्राचीन नाम 'खिरवार' धारण किया और भागीरथ के विचारों को आगे बढ़ाया। उनका नया नेता दुबिया गोसाईं था। गोसाईं जामतारा का एक हिंदू धर्मगुरु था जिसने संथालों को धार्मिक सुधारों के लिए प्रेरित किया। 1880-81 ई० में उसका संथालों पर व्यापक प्रभाव था। भागीरथ की ही तरह गोसाईं ने भी संथालों को भूत और अदृश्य आत्मा से सदा के लिए मुक्ति एवं निश्चित नियमों का पालन करने को कहा। उसने संथालों को आश्वासन दिया कि अब वे उनकी बात मानेंगे तो उनकी सभी इच्छाएँ पूरी होंगी और नहीं मानने पर दैवी प्रकोप का सामना करना पड़ेगा। धर्मभीरु संथालों पर इसका गहरा असर हुआ और वे गोसाईं के समर्थक बन गए।

अक्टूबर 1880 में जब जनगणना आरंभ हुई तब संथालों ने इसका विरोध किया। जामतारा और गोड्डा में जनगणना की बड़े पैमाने पर संथालों ने विरोध किया। संथालों ने प्रचारित किया गया कि उन्हें पूर्ण भारत के चाय बागानों और उनकी स्त्रियों को अपमानित भेजा जाएगा। इसके संथालों का असंतोष और अधिक भड़का। संथालों ने लगान देना बंद कर दिया। इसके साथ-साथ जमीन एवं प्रशासन-संबंधी अनेक सुधार भी लागू किए गए। 1888-1894 ई० के मध्य नए सिरे से जमीन की बंदोबस्ती की गई। जमीनों का हस्तांतरणीय बना दिया गया। इसके बावजूद संथालों का साहूकारों द्वारा शोषण जारी रहा। इसके विरोध में कुछ नए नौजवानों का सहारा लिया और कुछ ने जबरदस्ती महाजनों से जमीन वापस छीन ली। सरकार ने जमीन छीननेवाले संथाल नेताओं को गिरफ्तार किया। साथ-साथ जमीन संबंधी-शिकायतों को न्यायालय के माध्यम से दूर करने का भी प्रयास हुआ। फलस्वरूप 1895 ई० तक संथालों का आंदोलन समाप्त प्राय हो गया।

आंदोलन के उद्देश्य एवं इसकी विशेषताएँ - सरदार आंदोलन के समान खिरवार आंदोलन के भी कुछ निश्चित सिद्धांत थे। ऐसा माना गया कि खिरवार नेताओं को भगवान ने संथालों को नया मार्ग दिखाने के लिए चुना है। संथालों के लिए आवश्यक था कि वे अपने नेता के बताए मार्ग पर चलें एवं निहित धार्मिक प्रथाओं का पालन करें। ऐसा करने पर संथाल परगना में स्वर्णयुग आएगा।

संथालों का शोषण करनेवाले सरकारी अधिकारी, जमींदार, ईसाई संथाल उनकी सभी धरोहर छीनकर चले जाएँगे। संथालों को यह विश्वास दिलाया गया कि बाहरी सत्ता एवं सरकार खिरवार नेताओं के प्रयासों को विफल करने की कोशिश कर सकती है इसलिए संथाल बाहरी शक्तियों का प्रतिरोध करें। संथालों को प्राचीन एवं परंपरागत देवताओं की पूजा छोड़ देने को कहा गया। सिंहबोंगा दुःखों की पूजा पर विशेष बल दिया गया। उन्हें शराब पीने से मना किया गया। खिरवार आंदोलन के नेताओं ने संथाल किसानों की जमीन और लगान-संबंधी समस्याओं को और भी ध्यान दिया। उन लोगों ने संथालों द्वारा साफ किए गए जमीन पर निश्चित लगान की माँग की। दिक्कुओं के शोषण के विरुद्ध भी उन्होंने अपना आक्रोश प्रकट किया।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए खिरवारों ने परंपरागत धार्मिक प्रथाएँ त्याग दीं। अपने को शुद्ध करने के लिए अपने सूअर और मुर्गे मार डाले तथा शराब पीना बंद कर दिया। वे हिंदुओं के समान तिलक (टीका) और जनेऊ धारण करने लगे। खिरवारों ने संथालों के पास कपास के बुनकरों पर गुप्त करों में रियायत (छूट) तथा जिनका अपना निजी इस्तेमाल था, उन लोगों ने संथालों से व्यापार करके उनके ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं किया। संथालों ने ब्रिटिश सत्ता का विरोध भी किया लेकिन यह विरोध बहुत उग्र और हिंसक नहीं था। जमीन-संबंधी समस्याओं को सुलझाने के लिए जमीन पर जबरदस्ती अधिकार किए गए एवं लगान बंद कर दिया गया था। संथालों के विरुद्ध अधिकारियों से शिकायतें भी कीं।

खिरवार आंदोलन में संथालों के अतिरिक्त कुछ हिंदू धर्मगुरुओं ने भी भाग लिया। संथाल नेताओं ने अधिकांश मुखिया अथवा ग्रामप्रधान थे। इस आंदोलन को संथाल परगना के बाहर रहनेवाले संथालों का भी समर्थन एवं सहयोग प्राप्त हुआ लेकिन जिस संथाल ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था वे इस आंदोलन से अलग रहे। इसी प्रकार संथाल परगना में कार्यरत ईसाई मिशनरियों ने इस आंदोलन का विरोध किया। वे सरकार को आंदोलनकारियों के कार्यों की सूचना देते तथा उनके प्रभाव को खंडन करते थे।

1857 ई० के प्रथम विश्वयुद्ध तक होनेवाले किसान और आदिवासी आंदोलनों के कारण लगभग पहले के आंदोलनों जैसे ही थे। आर्थिक शोषण और परंपरागत अधिकारों के छीने जाने से आदिवासियों और किसानों ने अनेक आंदोलन किए। इस समय धर्म का भी सहारा लिया गया परंतु अधिकांश आदिवासी आंदोलन अहिंसक रहे। सरकार ने किसानों और आदिवासियों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास भी किया लेकिन उनकी स्थिति पूरी तरह नहीं सुधरी। इसलिए किसान राष्ट्रीय आंदोलन की ओर आकृष्ट हुए। 1919 ई० के बाद किसान सभाओं का गठन हुआ जिससे किसानों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

किसान-सभा - संगठन एवं कार्य (The Kisan Sabha - Organisation and Achievements.)

19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए किसान आंदोलनों ने किसानों में एक नई चेतना जगा दी। वे अब अपने सामाजिक और आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए जुझारू रुख अपनाने लगे। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ-साथ किसान आंदोलनों में भी वृद्धि हुई। उनके भी संगठन बनने लगे। महात्मा गांधी ने किसानों को भी राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम की मुख्य धारा में आने को प्रेरित किया। चंपारण और खेड़ा में गांधी के सफल सत्याग्रह ने किसानों में आत्म-विश्वास जगा दिया।

किसान सभा के उदय की पृष्ठभूमि - 1920 ई० के लगभग बंगाल, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में किसानों के संगठन स्थापित किए गए। किसानों ने भारत के अनेक भागों में सामंती शोषण के विरुद्ध आंदोलन किया। उत्तरप्रदेश में रायबरेली और फैजाबाद के किसानों ने गैर-कानूनी कर देने से इनकार कर दिया। वहाँ किसानों ने एक्का (Eka) आंदोलन चलाया। उड़ीसा में भी किसानों ने आंदोलन किया। रण-विद्रोह, मोपला-विद्रोह, आंध्र के कोंडाडोरा और राजमुंदरी के भिल-विद्रोह वस्तुतः किसान आंदोलन ही थे। किसानों ने जमींदारी समाप्त करने, लगान कम करने तथा उपज का किसान और भू-स्वामी के बीच उचित ढंग से बँटवारा करने की माँग की। बंगाल में बर्गादार अथवा बटाईदार आंदोलन अत्यंत ही प्रभावशाली था। कांग्रेस ने भी लगान वृद्धि का विरोध किया। किसानों की स्थिति सुधारने का प्रयास व्यक्तिगत तौर पर कुछ नेताओं ने भी किया। आंध्र में एन० जी० रंगा ने रैयत एसोसिएशन स्थापित किया। 1929-33 के विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का किसानों पर और अधिक बुरा प्रभाव पड़ा। अब किसानों को आर्थिक

संकट ढंग से संगठित करने की आवश्यकता महसूस की गई, जो विभिन्न किसान-संगठनों को एक सूत्र में बाँधकर उनकी समस्याओं के निराकरण के लिए प्रयास कर सके। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम था अखिल भारतीय किसान-सभा का गठन।

किसान-सभा का गठन एवं इसके कार्य - अप्रैल, 1935 में संयुक्त प्रदेश (यू०पी०) में प्रांतीय किसान-संघ की स्थापना हुई। इसके बाद एन० जी० रंगा एवं इंदुलाल याज्ञिक ने अखिल भारतीय किसान-सभा की स्थापना के लिए प्रयास तेज कर दिया। अप्रैल, 1936 में लखनऊ में सहजानंद सरस्वती की अध्यक्षता में अखिल भारतीय किसान-सभा का पहला अधिवेशन हुआ। सभा ने एक किसान-कॉमिल की स्थापना की तथा किसान-बुलेटिन नामक पत्र निकालने का निर्णय लिया। इसके संपादक का दायित्व इंदुलाल याज्ञिक को सौंपा गया। अगस्त, 1936 में किसान-घोषणा पत्र जारी किया गया। घोषणापत्र में किसानों की स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने को प्रेरित किया गया, परंतु मुख्य माँग किसानों की स्थिति से ही संबद्ध रही। जमींदारी समाप्त करने, किसानों को जमीन का मालिक बनाने, बेगार-प्रथा समाप्त करने, कर्ज समाप्त करने एवं लगान की राशि में 50% की कमी करने, जंगल-संबंधी अधिकार किसानों को देने इत्यादि की माँगें रखी गईं।

किसानों ने अपनी माँगों के समर्थन में प्रदर्शन किए एवं सितंबर 1, 1936 को पूरे देश में किसान-दिवस मनाया। किसानों ने किसान सभा के कार्यों में उत्साहपूर्वक हिस्सा लिया। जमींदारों और पुलिस के अत्याचारों का उनलोगों ने सामना किया एवं मजदूरों के साथ भी एकता स्थापित की। आंध्रप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार में जमींदारों के विरुद्ध आंदोलन चलाए गए। बिहार के मुंगेर जिले के बड़हिया में जमींदारों द्वारा किसानों की जमीन को बकाश्त जमीन में बदलने के विरोध में एक बड़ा आंदोलन चला। 1936 में आरंभ हुआ। किसानों को बढ़ती शक्ति देखकर कांग्रेस ने भी उनके प्रति हमदर्दी दिखाई। जवाहरलाल नेहरू ने स्टेट पीपुल्स कांग्रेस के पाँचवें अधिवेशन में किसानों की समस्याओं पर ध्यान खींचा। उन्होंने लगान में 50% कमी करने, कर्ज कम करने और काश्मीर, पंजाब की भाँति रैयती-प्रथा और फैजपुर के कांग्रेस अधिवेशन में किसानों की स्थिति में सुधार लाने के कार्यक्रम स्वीकृत किए गए।

किसान आंदोलन बिहार में स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में अत्यंत प्रभावशाली बन गया। 1937 ई० में कांग्रेस शासित सरकारों के गठन के बाद किसानों में यह उम्मीद जगी कि सरकार किसानों को पर्याप्त राहत देगी लेकिन निराश होकर अगस्त 1937 में किसानों ने बिहार विधानसभा के समक्ष विशाल प्रदर्शन किए। किसानों ने लगान और जबरन वसूली, जमींदारों द्वारा छीनी गई जमीन वापस दिलाने एवं भूमि-अधिकार-कानून में संशोधन करने की माँग की। बाध्य होकर सरकार को लगान विधेयक पेश करना पड़ा। परिणामस्वरूप बकाश्त-भूमि-अधिग्रहण, मुजारा अधिनियम इत्यादि से किसानों को कुछ राहत मिली, परंतु उनकी मुख्य माँग जमींदारी प्रथा की समाप्ति पूरी नहीं हो सकी। बिहार के अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी किसानों के प्रदर्शन और आंदोलन हुए।

1938 ई० तक किसान-सभा अत्यंत सशक्त हो चुकी थी। इसकी सदस्य संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। 1938 ई० में बिहार में किसान-सभा के सदस्यों की संख्या करीब 2,50,000, पंजाब में 73,000, उत्तर प्रदेश में 60,000 आंध्र में 53,000 और बंगाल में 40,000 तक पहुँच चुकी थी।' किसानों के दबाव में ही 1937-39 ई० के बीच प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने भूमि और लगान-संबंधी सुधार कार्यक्रम अपनाए परंतु बाद में कांग्रेस ने किसानों और किसान-सभा के विरुद्ध अनुदार रुख अपनाया। किसान-सभा को दक्षिणपंथी कांग्रेसियों ने तोड़ने का भी प्रयास किया। किसान-सभा के मुकाबले बिहार में खेत-मजदूर-सभा बनाई गई। कांग्रेसियों द्वारा किसान-सभा की कार्यवाहियों में भाग लेने पर प्रांतीय कांग्रेस और जिला कांग्रेस समितियों द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया। यह प्रतिबंध कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में वापस लिया गया। 1938 ई० में मुख्यमंत्री-सम्मेलन में किसानों को और अधिक राहत देने के प्रयास किए गए।

किसानों के आंदोलन स्वतंत्रता के पूर्व और बाद में भी चलते रहे। किसान आंदोलन को साम्यवादी और समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से बहुत अधिक सहायता मिली। 1946-47 ई० में साम्यवादी-नियंत्रित किसान-सभाओं ने बंगाल, केरल, हैदराबाद और अन्य राज्यों में किसानों का संघर्ष तेज कर दिया। सितंबर, 1946 में बंगाल प्रांतीय किसान-सभा ने तेभागा आंदोलन चलाया। किसानों को उपज का 2/3 भाग देने की माँग की गई। इस आंदोलन का जोर उत्तरी बंगाल में था, दक्षिण बंगाल में इस आंदोलन का प्रभाव नहीं पड़ा। सुहरावर्दी की सरकार ने बर्गादार-संबंधी नियम बनाए परंतु 1950 ई० के पूर्व इसे पूरी तरह लागू नहीं किया जा सका। बढ़ते सांप्रदायिक दंगों की आग में यह आंदोलन बिना किसी विशेष उपलब्धि के समाप्त हो गया। बिहार में जमींदारी-प्रथा स्वतंत्रता के बाद ही समाप्त हो सकी।